International Journal for Multidisciplinary Research (IJFMR)
E-ISSN: 2582-2160 ● Website: www.ijfmr.com ● Email: editor@ijfmr.com

दलित सांस्कृतिक विमर्श की विकास यात्रा

डॉ. अर्चना द्विवेदी

असिस्टेंट प्रोफेसर, सेठ आनंदराम जयपुरिया कॉलेज, कोलकाता-

भारतीय समाजिक व्यवस्था के संदर्भ में दलित अभिप्राय उन लोगों से है जिन्हें जन्म जाति था वर्णगत भेदभाव के कारण न्याय और मानवधिकार से वंचित रहना पड़ा है। मुख्य रूप से वर्ण व्यवस्था में शूद्र समझी जाने वाली जातियाँ, छुआछूत की प्रथा के शिकार अछूत, हरिजन और गिरिजन दलित वर्ग के अंतर्गत आते है। सामाजिक विडंबना यह है कि मध्यकाल में स्त्री को भी इसी के भेदभावपूर्ण व्यवहार का शिकार होना पड़ा अत: इस वर्ग में संपूर्ण समाज की आधी आबादी समझी जाने वाली स्त्री जाति भी शामिल है। शूद्र और स्त्री को ढोल और पशु की भांति ताड़ना का पात्र घोषित करने वाली परंपरा ने अमानुषिक अत्याचार करके इन वर्गों को इस प्रकार पद्दलित किया कि इनकी अस्मिता तक विलीन हो गई।

वर्तमान 'समय में उत्तर आधुनिक विमर्श ने हाशिए के वर्गों को केन्द्र के वर्ग बनाने की पहल की है और विभिन्न भारतीय भाषाओं में बीसवीं शताब्दी के अंतिम दो दशकों में दलित विमर्श तीव्रता के साथ उभरा। इस प्रकार भारतीय समाज और साहित्य के संदर्भ में दलित विमर्श का अभिप्राय है वर्णाश्रम व्यवस्था अथवा तथाकथित मनुवादी या ब्राह्मणवादी व्यवस्था में अस्पृश्यता, दमन और दलन के शिकार निम्न वर्ण या अंत्यजों की पीड़ा की केन्द्रीय विमर्श के रूप में स्वीकृति। और इस दलित विमर्श का ध्येय है जाति उन्मूलन।

वर्तमान भारतीय सभ्यता के निर्माता वैदिक जन थे। उनका दर्शन ब्राह्मणवाद रहा। इसे ही कालांतर में हिन्दू दर्शन अथवा भारतीय दर्शन कहा गया। दलित वर्ग सदैव से संघर्षशील समाज का अविभाज्य अंग रहा है। आदिकाल से आज तक दलित दशा पर यदि विचार करें तो अनेक परिवर्तनों के बावजूद आज भी उसका मूल संघर्ष यथावत् है। प्रख्यात समाज शास्त्री एम. एन श्रीनिवास ने अपनी पुस्तक 'सोशोलॉजिकल स्टडी आफ मार्डन इंडिया'में लिखा है---"वैदिक काल में ऋगवेद के पुरूष सूक्त से जो वर्ण व्यवस्था चली, वह आज भी जारी है। यहाँ तक की अंग्रेजों के शासन काल में भी वर्ण व्यवस्था को प्रोत्साहित किया गया। हालांकि अंग्रेज़ों ने सती प्रथा, मानव बलि व दास प्रथा को रोकने का प्रयास किया, लेकिन इसका लाभ उच्च वर्ग को ही मिला।"[1]

तेरहवीं सदी के बाद भारत में मुसलमानों की सत्ता कायम हो गई। वे एकेश्वरवादी थे। इसका प्रभाव दलितों पर पड़ा। अतिशूद्रों का मंदिर प्रवेश वर्जित था। ऐसे समय में निम्न वर्ग के संतों ने ऊँच-नीच एवं जाति-पाँति के विरूद्ध आवाज़ उठाकर सारे मनुष्यों को बराबर बनाया। इनमें संत रैदास, संत कबीर, संत तुकाराम, नानक, नामदेव आदि प्रमुख थे। सभी संत श्रम परंपरा के थे। ये श्रम को महत्व देते थे। संतों ने सदैव अपने आत्मसम्मान को सर्वोपरि रखा। इन्होंने अपमानितों के मन में आत्म विश्वास जागाने का काम किया। परंतु दलित वर्ग को जिस धारदार संघर्ष की आवश्यकता थी वह संत समुदाय नहीं दे पाया। क्रांतिकारी विद्रोही चेतना के बावजूद वे परंपरा की डोर पकड़े खड़े

दिखाई देते हैं। इनका मन ब्रह्म, आत्मा-परमात्मा एवं मोक्ष में अधिक रमा रहा। दलित संत लेखकों की यह मजबूरी आज के दलित लेखकों को आक्रोश से भर देती है। ध्यान देने वाली बात यह है कि दलित लेखकों और संतों के काल में बहुत बड़ा अंतर है। और यह अंतर केवल काल का नहीं अपितु सांस्कृतिक स्थित्यंतर का भी है।

भारत में जब अंग्रेज़ों की सत्ता स्थापित हो गई, तो उन्होंने भारत में रहने वाले सभी लोगों के लिए शिक्षा के द्वार खोल दिए। अत: यह कहा जा सकता है कि दलितों की शिक्षा की शुरूआत अंग्रेजों से हुई। यह भी सत्य है कि बंबई अंग्रज़ों का पहला व्यापारिक केन्द्र था और यही समृद्धि एवं नई पुरानी संस्कृति और विचारधाराओं का संगम स्थल भी बना। धीरे-धीरे शिक्षा का प्रसार दलित, किसान, स्त्रियों एवं श्रमिक वर्ग तक हुआ। महाराष्ट्र में ही ज्योतिबा फुले हुए जिन्होंने परंपरा से हटकर समाज को बदलने की चेष्टा की। स्त्री शिक्षा की प्रवर्तक सावित्री बा फुले थीं जो भारत की प्रथम महिला समाज सेवी थीं। इन्होंने तमाम विराधों का सामना करते हुए भी समाज को जागृत करने का पुनीत कार्य किया।

गोपाल सुरू 'दलित कल्चरल मूवमेंट एंड डाइलेक्टीकल ऑफ दलित पॉलिटिक्स इन महाराष्ट्र' की भूमिका में कहते हैं---"महाराष्ट्र के दलित सांस्कृतिक आंदोलन ने दो ऐतिहासिक काम किए। एक तो इन्होंने दलित जनता की सांस्कृतिक ज़रूरतों तथा आकांक्षाओं को पूरा करने के लिए अपनी कविता, लोकगीत और वाद्य संगीत के यंत्र बनाए, दूसरे इन्होंने डॉ. अंबेडकर के नेतृत्व तथा उनके बाद चल रही मुक्ति (emancipation) की राजनीति के लिए रैडिकल संदर्भ भी निर्मित किए।"[2]

बाबा साहब के नेतृत्व में उतरने के बाद जो नौजवान पढ़ी लिखी पीढ़ी थी साहित्य मंच पर उतरी। दलित चेतना और आंदोलन के विकास के साथ दलित साहित्य भी विकसित हुआ। जैसा कि शरण कुमार लिंबाले कहते है--"दलित साहित्य, अपना केन्द्र बिंदु मनुष्य को मानता है, दलित वेदना, दलित साहित्य की जन्म दात्री है। वास्तव में यह बहिष्कृत समाज की वेदना है।"[3]

इन लेखकों ने जनवाद-प्रगतिवाद के मुद्दों को अपने अनुभव के खराद पर घिसकर उसे प्रस्तुत किया।जहाँ कहीं दलित साहित्य का विरोध हुआ उन्होंने डटकर उसका विरोध किया एवं अपनी प्राथमिकताओं एवं शर्तों को समाज के समक्ष रखा।'मूकनायक' से 'महानिर्वाण' यानी 1920 से 1956 तक का डॉ. अंबेडकर की कलम, वाणी और कार्य से प्रभावित रहा। बाबा साहब ने अछूतों की कैफियत गाँव की सीमा से गोलमेज़ परिषदों तक प्रस्तुत की। अछूतों के हक़ के लिए उन्होंने पानी से परमेश्वर तक का संघर्ष किया। बाबा साहब के कार्य से संपूर्ण दलित समाज प्रभावित हुआ। दलित लेखकों ने बाबा साहब की सोच और उनके कार्य का गौरव गान शुरू किया। इस काल में जो लेखन हुआ, वह क्रांति का प्रचार करने वाला था। बाबा साहब के कार्यकाल को दलित आंदोलन के इतिहास में प्रबोधन-पर्व कहा जाएगा। इस प्रबोधन पर्व के प्रमुख लेखकों में बंधुमाधव, शंकरराव खरात तथा अण्णभाऊ साठे आदि उल्लेखनीय हैं।

जब मराठी साहित्य में सूक्ष्म, विशद्, व्यापक और इतनी परिपक्व बहस चल रही थी तब दूसरी ओर हिन्दी पट्टी में एक दूसरी ही धारा का प्रवाह था। महाराष्ट्र में नवजागरण के फलस्वरूप ज्योतिबा फुले, पेरियार, नारायण गुरू और डॉ. बाबा साहब अंबेडकर जैसे परिवर्तनकामी महापुरूषों के प्रभाव में दलित चेतना आंदोलन जब संघर्ष, शिक्षा, संगठन और साहित्य के समाज में आमूल-चूल परिवर्तन की तरफ बढ़ रहा था तथा राजनीतिक भागीदारी के लिए संघर्षरत था तो हिन्दी पट्टी में राजा राममोहन राय, दयानंद सरस्वती, गाँधी जैसी महान आत्माएँ सामाजिक स्तर पर सुधारवादी धारा को लेकर चल रहे थे।

साहित्यिक स्तर पर इनकी दबी दबी, इक्का-दुक्का आवाज़े उठती तो थीं पर हठात् गुम हो जाती थीं। क्रांतिकारिता का तो कोई सवाल ही नहीं था। यदि कहीं कोई क्रांतिकारी रूझान हुए भी तो वे अकेले पड़ गए। उनके अपने दलित समाज ने भी उनका साथ नहीं दिया क्योंकि स्वयं दलित समाज घोर सामंती रूढ़िवादी सोच में आकंठ डूबा हुआ था।

उत्तर प्रदेश में 19 वीं सदी में ही बाबा साहब से कुछ पहले ही स्वामी अछूतानंद ने आदि हिन्दू आंदोलन चलाया जिसके फलस्वरूप जाति पर प्रहार करने वाला प्रचार और साहित्य लिखा जाने लगा। उन दिनों इन सुधारकों द्वारा जो भजन गया जाता था वह मनु पर कबीर शैली में चोट करने वाला था। स्वामी अछूतानंद ने नवंबर 1928 में बाबा साहब से मुलाकात की एवं उन्हें अपना नेता ही नहीं अपितु भारत के दलितों के प्रतिनिधि के रूप में प्रस्तुत किया।

दरअसल स्वामी दयानंद के नेतृत्व में हिन्दी पट्टी में जो अछूतोद्धार अभियान चलाया जा रहा था वह प्रमुखत: सुधारात्मक ही था। इसके अनुसार वर्ण व्यवस्था के यथावत् रखते हुए भेदभाव मिटाने की बात की जा रही थी। ठीक इसके विपरीत महाराष्ट्र में बाबा साहब ने मनु विधान नष्ट करने की बात कही थी जिसे उन्होंने मनु स्मृति दहन कर एक सक्रिय आंदोलन का स्वरूप प्रदान किया। स्वामी दयानंद की सोच जहाँ सुधारवाद के साथ-साथ धर्म पर टिकी थी वहीं डॉ. अम्बेडकर की सोच वैज्ञानिक एवं तार्किक थी तहत के परिवर्तनवादी मुहिम चला रहे थे जिसके हथियार शिक्षा, संघर्ष और संगठन थे, धर्म नहीं।

मोहनदास नैमिशराय के अनुसार--"उत्तर में कबीर आए, नानक आए, रैदास आए पर ज्योतिबा फुले और बाबा साहब डॉ. अंबेडकर जैसे व्यक्तित्व न आए यह हमारे लिए अफसोस की बात क्यों नहीं होनी चाहिए। हमने तो ज्योति बा फुले और बाबा साहब का जन्म होते ही उन्हें अपना मान लिया था। उनके विचारों को आत्मसात किया था। हमें लगा था कि उन्होंने हमारे ही घर जन्म लिया है। मेरा घर, मेरी बस्ती, मेरा नगर ही क्यों, सम्पूर्ण हिन्दी में हमने क्रांतिकारी आह्वान किया था।"[4]

मोहन दास नैमिशराय का उपरोक्त कथन उस पीड़ा और टीस का साक्षी है जिससे उत्तर भारत जूझता रहा है। सामंती-प्रभाव तथा कट्टर सनातनी मनुवाद से आतंकित हिन्दी पट्टी में किसी दलित की आवाज़ को बर्दाश्त करना असंभव था। मोहनदास नैमिशराय आगे कहते है--"इलाहाबाद में रामचंद्र बनोधा ने धनंजय कीर से भी पूर्व 1950 के पहले ही हिन्दी में बाबा साहब की आत्मकथा लिख दी थी। उत्तर प्रदेश में आगरा में बाबा साहब का अधिक प्रभाव पड़ा। जिन लोगों ने सामाजिक एवं साहित्यिक दिशा में उन दिनों योगदान किया उनमें भगवान दास, यादवेंदु, डॉ. खेमचंद बोहरे, बाबू करण सिंह, गोपी चंद पिप्पल और छत्रपति अंबेश प्रमुख थे।..."[5]

परन्तु हिन्दी के आभिजात साहित्यकारों एवं आलोचकों ने इसे नज़रअंदाज़ किया। हिन्दी पट्टी में दलितों का अपना कोई मज़बूत संगठन या नेतृत्व न था जो उन्हें महाराष्ट्र की तरह आंदोलन से जोड़ सकता। महाराष्ट्र में दलित नेता और साहित्यकार अपने बल पर और अपने संगठन के आधार पर डॉ. अंबेडकर के नेतृत्व एवं उनके विचारों से लैस हो सामाजिक के साथ साथ राजनीतिक प्रतिबद्धता और पुष्ट दृष्टिकोण के साथ उभरे। इसी कारण वहाँ दलित साहित्य एक स्वस्थ, स्पष्ट, परिपक्व एवं क्रांतिकारी समझ के साथ विकसित हुआ और आज वह महाराष्ट्र में मुख्यधारा का साहित्य बन गया है जबकि हिन्दी में इस धारणा पर सवर्ण पूर्वाग्रह अपनी भी बरकरार है। हिन्दी पट्टी में दलित साहित्यकारों के साथ हो रहे पक्षपातपूर्ण रवैये के पीछे एक अन्य कारण दर्शाते हुए रमणिका गुप्ता कहती हैं--"इसका एक कारण यह भी है कि हिन्दी पट्टी में दलित सवर्णों के मंच पर राजनीति या राजसत्ता में आए और पनपे जबकि महाराष्ट्र में उन्होंने स्वतंत्र राजनीतिक सत्ता का नेतृत्व किया, भले विपक्ष में ही रहकर।"[6]

1914 ई. में हीरा डोम की 'अछूत की शिकायत' नामक कविता 'सरस्वती' में छपी। इसे दलित सोच की वर्तमान धारा की पहली रचना कहा जा सकता है चूँकि इसमें केवल दलितों की शिकायत या व्यथा ही दर्ज नहीं है अपितु आक्रोश और विरोध भी जताया गया है।

कविता के माध्यम से पहली बार भगवान के शास्त्र सम्मत रचना पर भी प्रश्न उठाया गया है जो दलित को मनुष्यता के दायरे से बाहर रखती है। रमणिका गुप्ता के अनुसार--"यह प्रश्न शैली या शिकायत का अंदाज भक्त परंपरा के कवियों से हटकर कुछ अलग था। बाबा साहब अंबेडकर ने जो बाद में प्रतिपादित किया ये शिकायतें उसी लहजे में ही थीं।"[7]

अस्सी के दशक तक आते आते स्वातंत्र्योत्तर भारतीय समाज में राजनीतिक क्षेत्र के यथास्थितिवाद से दलितों के बहुत बड़े हिस्से का मोहभंग हो गया। यद्यपि ऊपर से दलित वर्ग के उत्थान हेतु अनेक उपाय प्रायोजित हो रहे थे। शिक्षा, रोज़गार, चिकित्सा तथा आरक्षण और सामाजिक बराबरी तथा न्याय दिलाने की बात की जाती थी परन्तु मेधावी दलितों के आगे बढ़ने के मार्ग में परोक्ष रूप से सवर्ण वर्ग द्वारा बाधाएँ भी उपस्थित की जा रही थीं।

धीरे धीरे इस स्थिति में व्यापक परिवर्तन लक्षित हुए। ऐसे संगठन अस्तित्व में आए जिनके माध्यम से कतिपय प्रतिबद्ध बुद्धिजीवियों, साहित्यकारों, नौकरशाहों तथा कुछ नेताओं ने दलित अस्मिता के संघर्ष के लिए प्रयास शुरू किए। कुछ जातीय संगठन भी सामाजिक-राजनीतिक चेतना भरने का काम कर रहे हैं। लेकिन 'वामसेफ' ने इस समाज में समानता की भावना के प्रसार का अपूर्व प्रयास किया है। इसके अतिरिक्त दलित साहित्यकार आज साहित्य, पत्रकारिता, शोध एवं समीक्षा आदि क्षेत्रों में तेज़ी से अपना नाम दर्ज़ करा रहे हैं।

जयप्रकाश कर्दम ने हिन्दी दलित साहित्य को छप्पर नाम का पहला उपन्यास दिया। मोहनदास नैमिशराय की 'अपने अपने पिंजरे', आत्मकथा विधा की प्रथम कृति के रूप में आई। ओमप्रकाश वाल्मीकि ने अपनी आत्मकथा 'जूठन' द्वारा हिन्दी पट्टी में दलितों की अमानुषिक विभीषिका को समाज के समक्ष प्रस्तुत किया। हाल ही में कौशल्या वैसन्ती ने 'दोहरा अभिशाप' नाम से अपनी लिखकर दलित महिला लेखन को समृद्ध किया है।

वर्तमान समय में कुसुम वियोगी, जयप्रकाश कर्दम, टी. पी. सिंह, मलखान सिंह, कंवल भारती, सी.वी. भारती, जियालाल आर्य, रजनी तिलक, कर्मशील भारती, श्योराज सिंह बेचैन, तुलसीराम आदि दलित लेखक रचनात्मक क्षेत्र में अपने शुचि योगदान से उसे समृद्ध कर रहे हैं।

संदर्भ सूची :-

1. http:/ www. swatantrawaz.com/1/usha-tyagi.htm.
2. लिंबाले शरण कुमार, दलित साहित्य का सौंदर्यशास्त्र, अनुवादक रमणिका गुप्ता, वाणी प्रकाशन, 2000, द्वितीय संस्करण (2005) पृ.11
3. http:/ www. swatantrawaz.com/1/usha-tyagi.htm.
4. लिंबाले शरण कुमार, दलित साहित्य का सौंदर्यशास्त्र, अनुवादक रमणिका गुप्ता, वाणी प्रकाशन, 2000, द्वितीय संस्करण (2005) पृ.14

5. वही, पृ.14-15
6. वही, पृ.16
7. वही, पृ. 18